शोध मंथन Vol. XIII No. III July-Sept. 2022 ISSN: (P) 0976-3333 (O) 2454-2733
Available at: http://shodhmanthan.com/

वाल्मिकी समुदाय परम्परागत एवं आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

प्राप्ति: 23.07.2022
स्वीकृति: 16.09.2022

डॉ० संगीता अग्रवाल
असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
मो०ला०सु०वि०, उदयपुर (राज०)
ईमेल: poojapokharna93@gmail.com

सारांश

भारतीय वर्ण व्यवस्था ने जब जातियों का रूप धारण किया तब शूद्रों में से एक वर्ग को अछूत कहा गया। तब इस वर्ग की स्थिति दयनीय हो गई। फलतः दलितपन का आरंभ हुआ। दलित शब्द पीड़ित के अर्थ में आता है। दलित वर्ग में वे सभी जातियाँ सम्मिलित है जो जातिगत सोपानक्रम में निम्न स्तर पर है, जिन्हें सदियों से दबाकर रखा गया है। अतः दलित उस व्यक्ति को कहा जाता है जो एक विशिष्ट सामाजिक स्थिति का अनुभव करता हो। यद्यपि दलित शब्द देशकाल के सापेक्ष नहीं है तथा वह जातिगत सीमाओं से भी परे है। फिर भी हमारे समाज में दलित शब्द को जाति विशेष से ही संयुक्त करके देखा जाता है। दलित शब्द व्यापक अर्थ में पीड़ित के अर्थ में आता है पर दलित शब्द का प्रयोग हिन्दू समाज व्यवस्था के अन्तर्गत परम्परागत रूप में शूद्र माने जाने वाले वर्ग के लिए रूढ़ हो गया। दलित का अर्थ सामाजिक सन्दर्भों में उस जाति समुदाय से है जो अन्यायपूर्वक कुछ विशिष्ट जातियों द्वारा दमित किया गया हो अर्थात् दलित वर्ग समाज का वह निम्नतम वर्ग है जो उच्च वर्ग के लोगों के उत्पीड़न के कारण आर्थिक दृष्टि से बहुत ही हीन दशा में रहा हो। प्राचीनकाल में दलितों के लिए शूद्र, अतिशूद्र, अन्त्यज और अस्पृश्य शब्दों का प्रयोग होता था। दलित से अभिप्राय वे व्यक्ति अथवा समूह है जिन्हें सामाजिक तथा आर्थिक आधार पर शोषित किया जाता रहा है तथा इन्हीं आधारों पर इन्हें समाज में उचित अवसर नहीं दिया गया। ऐसे सभी लोगों को दलित कहा जाता है।

मुख्य बिन्दु

वर्ण व्यवस्था, अस्पृश्य, अपवित्रता, अछूत वर्ग की उत्पति,जातिगत सोपानक्रम वाल्मिकी, असमानता तथा भेदभाव।

अस्पृश्य जातियों की उत्पत्ति

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के विकास क्रम में वेदों की रचना हुई। ऋग्वेद के काल की रचना को विद्वानों ने सबसे प्राचीन 2500 ई.पू. से 1500 ई.पू. तक माना है। अथर्ववेद के उत्तरवैदिक काल में केवल ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य शब्द का ही उल्लेख मिलता है, शूद्र शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि अथर्ववेद के उत्तरार्द्ध में शूद्रों को समाज के एक वर्ग के रूप में चित्रित किया गया था। इसी अवधि में शूद्र उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऋग्वेद के एक

मंडल पुरूष सूक्त में उल्लेख किया गया है। मैक्समूलर ने भी अथर्ववेद का रचनाकाल 1200 ई. पू. से 1000 ई.पू. का माना है। इस युग में शूद्रों को यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार था। महिला न केवल वेद पढ़ती थी बल्कि वेद पढ़ाने के लिए विद्यालय भी चलाती थी। शूद्र राजा सुदास का राज्यारोहण संस्कार तथा उसका राजसूय यज्ञ का कार्यक्रम स्वयं वशिष्ठ ने कराया था। इस काल में शूद्र अस्पृश्य नहीं थे ऋगवैदिक कालीन समाज में जाति प्रथा नहीं थी, समाज समानता पर आधारित था।[2]

जाति प्रथा और असमानता तथा भेदभाव का युग तो उत्तरवैदिक युग की अंतिम अवस्था में आरंभ हुआ। परन्तु गौतम बुद्ध से पूर्व वैदिक कर्मकाण्ड़ पराकाष्ठा पर पहुंच गए थे। जनता का एक वर्ग वैदिक कर्मकाण्डों से असंतुष्ट होकर मुक्ति की तलाश करने लग गया था। इस असंतोष के फलस्वरूप जैन और बौद्ध धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ था। इसलिए शूद्रों के वर्ग विभाजन की अवस्था को 1000 ई.पू. से 600 ई.पू. के बीच माना जा सकता है। इस अवधि में उत्पादन के साधनों में परिवर्तन के बाद सामाजिक व्यवस्था में स्थायित्व आ गया और धीरे–धीरे शूद्रों में सबसे नीचे अथवा अस्पृश्य पेशा करने वाले को अस्पृश्य कहा जाने लगा। यह भारतीय समाज का सबसे कमजोर और तिरस्कृत वर्ग था।

यद्यपि वर्ण व्यवस्था की स्थापना के समय शूद्र को सेवा कार्य दिया गया था तथा कार्य के आधार पर किसी भी वर्ण को ऊंच–नीच के दृष्टिकोण से नहीं देखा जाता था। परन्तु कालान्तर में शूद्रों के दो वर्ग बना दिये गये–पहला स्पृश्य और दूसरा अस्पृश्य। इस अस्पृश्य वर्ग को पंचम वर्ग भी कहा गया। यह माना जाने लगा कि पंचम वर्ग के लोग निकृष्ट व अपवित्र होते है। इस पंचम वर्ग को न केवल छूना मना था बल्कि उसके साथ उठना–बैठना, खाना–पीना, सामाजिक सम्बन्ध रखना भी वर्जित था। उसके मंदिर में प्रवेश पर भी प्रतिबंध था। जहां उच्च वर्ग के लोग रहते थे, वहां पंचम वर्ग के लोग नहीं रह सकते थे।[3]

संभवतः आर्यों के आगमन के समय से ही भारत में, आज की तरह ही, लोग गाँव में रहते थे जिनमें खेती करने वाले लोग गाँव के अन्दर तथा निम्न श्रेणी के श्रमिक लोग गाँवों के बाहर रहते थे। इन लोगों में आम श्रमिक तथा वे लोग थे जो अपने घृणित पेशों के कार्य एवं जीवन के कारण अस्वच्छ एवं अस्पृश्य माने जाते थे। आर्य लोग विजेता के रूप में आए थे और उन्होंने आरामपरस्त वर्ग के विशेषाधिकारों के साथ–साथ समाज व्यवस्था के धार्मिक तथा नैतिक कार्यों के अधिकार, अपने पास रखे। अतः जैसे–जैसे समय गुजरता गया वे निरन्तर पुरोहित (पुजारी), अभिजात (महान कुलीन), बड़े भूस्वामी (जमींदार) तथा पशुपालक बन गए। इन विजेता लोगों ने जीवन के सर्वाधिक सरल अथवा हल्के–फुल्के कार्यो पर अपना अधिकार रखा तथा वे ही कार्य उन्होंने किए।[4]

हापकिन्स के अनुसार वैश्य (अनुचर/कमेरी जाति) और शूद्रों (सेवक जाति) ने एक और दासों (सर्वाधिक शोषित वर्ग, अन्त्यज, दस्यू) तथा दूसरी ओर शासक और पुरोहित जातियों के बीच संस्तर बनाया अर्थात् एक नया वर्ग पैदा हुआ। विधि पुस्तकों का सामयिक अध्ययन करने पर इस बात का पता चलता है कि गाँव में आम लोगों तथा अन्त्यजों, जो गाँव से बाहर (गाँव की सीमा पर) रहते थे, के बीच बहुत दूरी थी। मनु के अनुसार, "संसार की वे सभी जातियां जो उस समुदाय से अलग है जो (ब्रह्मा) पैर से पैदा हुए है, दस्यू कहलाते है, भले ही वे गंवारू (असभ्य या असंस्कृत) भाषा बोलते हो या आर्यों द्वारा बोली जाने वाली भाषा। यह अलग किया हुआ समूह मिश्रित जातियों तथा इस देश के मूल निवासियों का मिश्रण था। चाण्डाल उन लोगों को कहा जाता था जो आर्यों के रक्त प्रदूषण

से उत्पन्न होते थे, तथा आर्यो द्वारा पराजित लोगों को दस्यू (दास, आदिवासी) कहा जाता था। कहीं–कहीं पर इन दोनों शब्दों का पर्याय के रूप में प्रयोग मिलता है। वैदिक काल में भी दस्यू लोगों को हीन और अस्वच्छ मानकर उनसे घृणा की जाती थी। उनको कभी भी आर्य समुदाय में शामिल नहीं किया गया।[4]

धर्मसूत्र काल में अपवित्रता अवश्य थी परन्तु अछूतपन की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था। जब चीनी यात्री फाह्यान भारत आया था उस समय अपवित्रता केवल चाण्डालों तक सीमित थी। उसने भारतीय लोगों के रीति रिवाजों का अध्ययन किया और तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का चित्रण करते हुए लिखा कि – चाण्डाल गांव से बाहर एक ओर रहते है जब वे शहर या बाजार में प्रवेश करते है तो उन्हें एक विशेष प्रकार की आवाज करनी पड़ती है ताकि उच्च जातियों के सदस्य उनके स्पर्श से बच सकें। फाह्यान ने पाया कि केवल चाण्डाल ही उदरपूर्ति के लिए शिकार में कीचे रखते है, शराब पीते है तथा लहसुन प्याज खाते है।[5]

चीनी यात्री हेनसांग ने उल्लेख किया है कि कसाई, धोबी, नट, नर्तक, बधिक और भंगी तंग बस्तियों में निवास करते है। इसलिए यह संभव है कि उस समय तक छुआछूत की प्रवृत्ति विकसित हो चुकी थी। अस्पृश्यता की उत्पत्ति के निश्चित समय की जानकारी चौथी शताब्दी में गुप्त नरेशों द्वारा गौ–वध को दण्डनीय घोषित करने से, गौ–मांसाहारी लोगों को अछूत कहने से मिलती है – इसलिए लगभग 400–629 ई. के आसपास अछूतों की उत्पत्ति का काल माना जा सकता है।[6]

अस्पृश्यता संभवतः मौयपूर्व काल के अन्त में व्यवहार में आने लगी। इस आधार पर अछूतों की उत्पत्ति के दो मुख्य कारण पाए जाते है। पहला, घृणित पेशा, दूसरा आदिम जातियों का संस्कार विहीन जीवन। पहले दृष्टिकोण के अनुसार धार्मिक कारण अछूत वर्ग की उत्पत्ति में सहायक सिद्ध हुए। अछूत वर्ग की उत्पति के कारण और काल के सम्बन्ध में मतवैभिन्य होते हुए भी इसमें कोई संदेह नहीं है कि हिन्दू समाज में सबसे कठिन कार्य करने वाले मनुष्यों को एक समय पंचम वर्ग में रखकर अपने आपको पवित्र कहने वाले लोगों ने उनको सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों से वंचित करने के साथ ही उन्हें दूर रखा।[8]

अन्त्यज शब्द का उल्लेख स्मृतियों और श्रुतियों में आया है। मनुस्मृति में धर्माचरण करने वाले चार वर्णों से बाहरी अथवा अवशिष्ट जनों को दस्यु और निशाद कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में दस्यु को उदन्तय तथा अन्तान कहा गया है। अन्तान शब्द का अर्थ है – अन्तवासी। इसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह आर्यों से बाहर की जाति थी जिसकी गणना चार वर्णों में नहीं की जाती थी। अन्त्यजों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचना अलबरूनी के यात्रा वृतान्त से मिलती है जिसने 1007 ई. से 1033 ई. के मध्य भारत भ्रमण किया। उसने लिखा कि शूद्रों के नीचे आने वाले 'अन्त्यज' कहलाते है – चमड़ा बनाने वाले चमार, जुलाहा, जादूगर, टोकरी बनाने वाले, नाविक, मछवारे एवं बहेलिया, हाडी, डोम, चाण्डाल, वाल्मिकी आदि जातियां सफाई का कार्य करती है।[9]

दलित शब्द पीड़ित के अर्थ में आता है। दलित वर्ग में वे सभी जातियां सम्मिलित है जो जातिगत सोपानक्रम में निम्न स्तर पर है, जिन्हें सदियों से दबाकर रखा गया है। अतः दलित उस व्यक्ति को कहा जाता है जो एक विशिष्ट सामाजिक स्थिति का अनुभव करता हो। यद्यपि दलित शब्द देशकाल के सापेक्ष नहीं है तथा वह जातिगत सीमाओं से भी परे है। फिर भी हमारे समाज में दलित शब्द को जाति विशेष से ही संपृक्त करके देखा जाता है। दलित शब्द व्यापक अर्थ में पीड़ित के अर्थ में आता है पर दलित शब्द का प्रयोग हिन्दू समाज व्यवस्था के अन्तर्गत परम्परागत रूप में शूद्र माने

जाने वाले वर्णों के लिए रूढ़ हो गया। दलित का अर्थ सामाजिक सन्दर्भों में उस जाति समुदाय से है जो अन्यायपूर्वक कुछ विशिष्ट जातियों द्वारा दमित किया गया हो। अर्थात् दलित वर्ग समाज का वह निम्नतम वर्ग है जो उच्च वर्ग के लोगों के उत्पीड़न के कारण आर्थिक दृष्टि से बहुत ही हीन दशा में रहा हो। प्राचीनकाल में दलितों के लिए शूद्र, अतिशूद्र, अन्त्यज और अस्पृश्य शब्दों का प्रयोग होता था। दलित से अभिप्राय वे व्यक्ति अथवा समूह है जिन्हें सामाजिक तथा आर्थिक आधार पर शोषित किया जाता रहा है तथा इन्हीं आधारों पर इन्हें समाज में उचित अवसर नहीं दिया गया। ऐसे सभी लोगों को दलित कहा जाता है।[10]

1932 ई. में जब लोथियन कमेटी भारत में मताधिकारों के सम्बन्ध में जाँच करने के लिए आई तो अचानक हिन्दूओं ने साइमन कमीशन द्वारा अछूतों के सम्बन्ध में दिए गए आँकड़ों को स्वीकार किया। कुछ प्रान्तों ने तो पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया कि उनमें छुआछूत की प्रवृति विद्यमान नहीं है क्योंकि उस समय तक छुआछूत को मानने के परिणामों का आभास हो गया था कि हिन्दुओं को जो प्रतिनिधित्व अछूत जनसंख्या के आधार पर मिलने वाला था, वह छोड़ना पड़ेगा। यह जानकर सवर्णो ने अछूतों को भारतीय समाज का अंग स्वीकार किया।

दलित शब्द का प्रयोग पहली बार महाराष्ट्र के समाज सुधारक महात्मा ज्योति राव फुले ने 19वीं सदी के अंतिम दशक में किया था। पिछड़ा वर्ग आयोग की रिपोर्ट के अनुसार दलित शब्द का प्रथम प्रयोग सन् 1919 के आस–पास किया गया। ब्रिटिश शासन के दौरान मोंटेग्यू–चेम्स फोर्ड के सुधार के द्वारा समूचे भारत में अनेक निकायों में दलितों के लिए प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। इसी के अनुसार सन् 1919 में दलित शब्द अनुसूचित जातियों, जनजातियों के लिए अधिकारिक रूप में प्रयुक्त होने लग गया।

सन् 1928 में साइमन आयोग के समक्ष पुणे में डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने दलित और अछूत को एक वर्ग माना। इण्डियन लेजिस्लेटिव कमेटी (1932) और साउथबरों मताधिकार विचार समिति ने अस्पृश्यों को गुनहगार जमात, वन्यजाति और आदिवासी में समाविष्ट किया था परन्तु लोथियन समिति (1932) ने डिप्रेस्ड क्लास यानी अस्पृश्य वर्ग को ही दलित वर्ग स्वीकार किया। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने गोलमेज सम्मेलन (1931) के अपने माँग पत्र में डिप्रेस्ड वर्ग का प्रयोग किया था।

सन् 1931 की जनगणना के समय जनगणना अधीक्षक ने दलित शब्द की अपेक्षा बाहरी जातियाँ शब्द प्रयोग किया। इस शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से किया था कि इन जातियों का भारतीय सामाजिक संरचना में कोई स्थान नहीं था अर्थात् इनकी सामाजिक प्रस्थिति जातीय संरचना के बाहर थी। इस शब्द के प्रयोग ने एक राजनीतिक समस्या उत्पन्न कर दी। डॉ. अम्बेडकर ने यह कहना उचित समझा कि इन जातियों का हिन्दुओं से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि यह हिन्दुओं की सामाजिक संरचना के अन्तर्गत नहीं आती है। अम्बेड़कर ने सन् 1931 में होने वाले गोलमेज सम्मेलन में यह माँग की कि इन जातियों को हिन्दू न होने के कारण पृथक् निर्वाचन का अधिकार मिलना चाहिए तथा इनके लिए दलित वर्ग के स्थान पर अन्य शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में महात्मा गाँधी का यह कथन था कि दलित वर्ग हिन्दुओं से पृथक नहीं वरन् उसका ही एक अंग है।[11]

इस प्रकार 19वीं व 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अछूतों के लिए दलित और हरिजन शब्द का प्रयोग होता रहा। लेकिन 20वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में दलित वर्ग के अन्तर्गत पिछड़े वर्ग (स्पृश्य–अस्पृश्य), जनजातियों और महिलाओं को भी दलित कहा जाने लगा। दलित शब्द का

आधार व्यापक होते हुए भी केवल दक्षिण भारत, उड़ीसा और बिहार जैसे राज्यों में अनुसूचित जाति को ही दलित वर्ग में मानने की परिपाटी रही। इसलिए यह स्वीकार करना चाहिए कि दलित वर्ग में वे जातियां है, जो परम्परागत रूप से भारतीय समाज में अस्पृश्य होने के कारण शिक्षा, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से सामाजिक संसाधनों से वंचित रही और वर्तमान में संघर्षरत है।[12]

वाल्मिकी समुदाय परम्परागत

वाल्मीकि को हरिजन, मेहतर और चूड़ा भी कहते है। वाल्मिकी अपनी उत्पत्ति सृष्टि से ही से मानते है। इनकी उत्पत्ति के बारे में कहा जाता है कि ब्रह्माजी ने जमीन पर कूड़ा कचरा देखकर उसको झाड़ने के वास्ते अपने मैल से एक पुरूष पैदा किया। उसका नाम मात्रक रखा जिसका कार्य कूड़ा कचरा उठा कर फैंकना था। उसकी पत्नी महिश्वर हो गयी फिर महिश्वर से मेहतर बन गया। वाल्मिकी इस कारण कहलाये कि मात्रक की औलाद ने किसी समय में भूखों मरते मरे हुए जानवर मांस खा लिया था। सभी फिर बिना सोच विचार किए मातंगी देवी के मंदिर में आ गये जिससे देवी ने शाप दिया कि तुम अब हमेशा क्रिया भंग रहो और मल मूत्र उठाते फिरोगे। उस दिन से उनका दूसरा नाम भंगी हुआ।

वाल्मिकी चूड़ा, लालबेगी, खाकरोव, हलालखोर, मेहतर, अलोगना, रूदती, मालकाल, वाल्मिकी, जदमली आदि इसी जाति के नाम है। वाल्मिकी हिन्दू धर्म को मानते है। इनका कोई विशेष सम्प्रदाय नहीं है। विवाह तथा जन्म के क्रियाकर्म इनका गुरू करता है। विवाह हिन्दू प्रथा के अनुसार होता है। विवाह सात फेरों द्वारा सम्पन्न माना जाता है। बेवा औरत का नाता होता है। मुर्दा को गाड़ा जाता है। यदि कोई वाल्मिकी किसी दूसरी कौम की औरत को अपने घर रख लेता है और पंचों से पुकार करता है तो पंच उस औरत को दिला सकते है। औरत के राजी न होने पर उसके बदले कुछ रकम दिला देते है। इस जाति के लोग दो बहिनों को एक साथ नहीं रख सकते है। वाल्मिकीयों में निम्नलिखित खांपे हे – आदिवाल, ऊमच, अमरवाल, किलाणा, करालियों, गवालगर, गढ़वाल, गारूगेद, गुजराती, गुसर, गोपाल, चवाण, चावरा, चांडालिया, छाबा, जागज, ढगोरिया, डागोरिया, धाणी, भांमर, मेई, मारू आदि।

वाल्मिकीझाड़ू और टोकरे से पहचाने जाते है। औरतें लाख का चूड़ा पहनती है, हाथी दांत का नहीं। दांत का चूड़ा पहनने के लिये पहले राज्य से स्वीकृति लेनी पड़ती थी जिसकी अब आवश्यकता नहीं रही। वाल्मिकी मुसलमानों का भी झूठन खाता है परन्तु उसे अपनी घर पर भंगी को बैठाकर खाना खिलाना चाहे तो वह नहीं खाता है। उसके लिए वह सोने की टोकरी व झाड़ू की मांग करता है। यह जाति शराब, माँस का प्रयोग अधिक करती है। माँस में गाय, भैंस, ऊँट, सूअर आदि का भी खा लेते है। यह सांसी, धोबी, ढोली और साठियों का झूठा नहीं खाते है न इनकी झूठन है उठाते है। राजस्थान में वाल्मिकीयों की दो जातियां है – (1) लाहोरी (2) मुलतानी। दोनों एक दूसरे के साथ शादी विवाह करते है।[13]

वाल्मिकी जाति परम्परागत रूप से नगरों एवं कस्बों में पाखाना उठाने का पेशा करती आई है और उसने अपने आपको इसी पेशे तक सीमित रखा है। पाखाना साफ करने या करने जैसा गन्दा काम करने की वजह से वाल्मिकी समाज को हिन्दू समाज में सबसे नीचा समझा जाता है। यही कारण है कि अपने जातिगत व्यवसाय को छोड़कर दूसरा व्यवसाय अपनाना उनके लिए अत्यन्त कठिन है।

वाल्मिकी समाज के साथ वे लोग भी छुआछूत करते है जिनके साथ समाज के दूसरे लोग छुआछूत करते है। इससे यह आशय निकलता है कि वाल्मिकी जाति एक व्यावसायिक समूह है, जिसका सम्बन्ध मैला हटाने से ही है। राजस्थान के वाल्मिकी अपने आजीविका के लिए जजमानी (बिरत) और नगरपालिका की नौकरी पर निर्भर रहते है।

चार वर्णो के पीछे जो मूल सिद्धान्त है उसका इतिहास बड़ा लम्बा है। इसने अभी तक जनमानस को जकड़ रखा है। यह अवश्य है कि आधुनिक जीवन की परिस्थितियों के कारण यह पकड़ ढीली पड़ती जा रही है। इस सम्बन्ध में दो राय हो सकती है कि लोकतंत्र की विचारधारा और भारत की सामाजिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं के संदर्भ में वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त में कोई बल नहीं रहा है। समाज के स्वयं सोच–समझ सकने वाले अंग इस बात पर एकमत है कि प्राचीन युग की इस थाती को जितना शीघ्र तिलांजलि दे दी जाए उतना ही भारतीय समाज के लिए अच्छा होगा।